



पुरुषार्थमूर्ति पूज्य श्री निहालचंद्र सोगानीजी द्वारा
साधर्मीओं को लिखे हुए आध्यात्मिक पत्र

(१९)

कलकत्ता

२३-६-१९५६

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

आत्मार्थी...निहालचंद्र का धर्मस्नेह।

कलकत्ते से एक भाई वहाँ गये थे, उन्होंने आपके समाचार कहे थे। विद्वत्परिषद पर वहाँ पहुँचने का निश्चय किया था, वह भी कुछ ही समय अर्थात् एक हफ्ते तक वहाँ ठहरने का, सो प्रोग्राम बदलने से फिर रुकना हो गया। कुछ योग ही ऐसा है, पूर्व कर्म भी ऐसे हैं कि उत्कृष्ट संयोग से वंचित रहना पड़ रहा है। सर्व प्रथम सोनगढ़ गया था तब ही तीव्र भावना थी कि वहाँ कोई मकान का प्रबंध कर निरंतर गुरुदेव के चरणों में लाभ उठाऊँ; परंतु योग ऐसा है कि अब के तो बरसों से भी दर्शन नहीं हो सके। इस माह में तो वहाँ की बारंबार स्मृतियाँ प्रबलतर होती जा रही है व परिषद पर पहुँचने का योग भी नहीं बना, गोया मुझे परिषद से अधिक प्रेम नहीं था फिर भी सुयोग समझकर समय चुना था। ऐसी हालत में पत्र लिखने का विचार हुआ सो लिखा जा रहा है।

जिस आत्मद्रव्यमें परिणाम मात्र का अभाव है उसमें जम गया हूँ। परिणामन सहज, जैसा होता है, होने दो; हे गुरुदेव! आपके इन वचनोंने अपूर्व निश्चलता पैदा कर दी है। चञ्चलता व निश्चलता तो परिणाममें है, मैं नित्य हूँ, मेरेमें नहीं, यह अनुभव अपूर्व है। परिणाम क्षण-क्षण निराकुलताकी वृद्धि पामते हैं। “तो पण निश्चय राजचंद्र मनने रह्यो, गुरु आज्ञाए थाशुं ते ज स्वरूप जो।” सम्यक् पुरुषार्थसे या तो पुण्ययोग होकर, अनुकूलता प्राप्त होकर राग टूटे अथवा पुण्यके अभावमें वीतरागता बढ़ कर राग टूटे। राग टूटना निश्चित है, क्योंकि श्रद्धाने राग-अरागरहित स्वभावका आश्रय लिया है व वीर्यकी क्षण-क्षण उधर ही उधर सहज उन्मुखता होनेसे ज्ञान-आनंदमयी अरागी परिणाम ही वृद्धिगत होंगे, यह नियम प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है।

अभी रात्रिके आठ बजे हैं, मंदिरजी जानेका समय है अतः बंद करता हूँ...

सबकों धर्मस्नेह।

धर्मस्नेही

निहालचन्द्र



स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४५: अंक-२४६, वर्ष-२३, मई-२०१८

आषाढ शुक्ल ८, रविवार, दि. २६-६-१९६६, योगसार पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, गाथा-५०, प्रवचन-१८

५० वीं गाथा। ४९ वीं में ऐसा आया था। यह योगसार है। योगीन्द्रदेव दिगम्बर मुनि ने ४९वीं में ऐसा कहा कि यह आयु घटती जाती है, फिर भी तृष्णा नहीं घटती। आयु घटती जाती है और तृष्णा नहीं घटती; बढ़ती है क्योंकि इसे आत्मा के स्वभाव का प्रेम नहीं है। समझ में आया? आत्मा, वह एक ओर राम और दूसरी ओर गाँव। एक ओर आत्मा सच्चिदानन्द अनाकुल आनन्दकन्द पदार्थ है और एक तरफ पुण्य-पाप के विकल्प, राग, शरीर, वाणी, कर्म और बाह्य सामग्री है। जिसे बाह्य सामग्री के प्रति प्रीति है, उसे तृष्णा बढ़ जाती है।

भगवान आत्मा शुद्ध सन्तोष का पिण्ड आनन्द का कन्द है। ऐसे आत्मा के अन्तर प्रेम के बिना बाहर की चीज़ के प्रेम से-फिर (भले ही) अन्दर शुभराग का, पुण्य का प्रेम होवे तो भी, वह तृष्णा का वर्द्धक प्रेम ही है। समझ में आया? इस कारण कहते हैं कि आयु व्यतीत होती जाती है, फिर भी मन नहीं गलता, तृष्णा नहीं घटती। क्यों नहीं घटती? कि पर में इसका प्रेम नहीं घटता। तब अब कहते हैं कि (वह) कैसे घटे?

मुमुक्षु :- इतना-इतना सुने और प्रेम नहीं घटे?

उत्तर :- यह इंकार करते हैं, यह आयेगा। उस ५२ वेमें (आता है न)? किसमें? ५३में आता

है न? शास्त्र पठन (भी) आत्मज्ञान के बिना निष्फल है। गुरु के पास सुने तो भी निष्फल है; इस आत्मा की अन्तर्दृष्टि के बिना, आत्मा के अन्तर के आनन्द के प्रेम बिना, उसके अनुभव के बिना गुरु के पास सुने या शास्त्र पढ़े, आत्मा के अन्तर के आनन्द के प्रेम बिना, उसके अनुभव के बिना गुरु के पास सुने या शास्त्र पढ़े-सब निष्फल है-ऐसा कहते हैं। आहाहा..! समझ में आया?

भगवान आत्मा एक सैकेण्ड में असंख्यातवें भाग में आनन्द का कन्द है। आहाहा..! आनन्द का सरोवर है। समझ में आया? जैसे, मृगमरीचिका में पानी नहीं, परन्तु सरोवर में पानी है; वैसे ही जगत के किसी पदार्थ में आत्मा को सुख नहीं है; आत्मा में सुख है। समझ में आया? ऐसे आत्मा में अन्दर में आनन्द है-ऐसा प्रेम किये बिना, बाहर के प्रेम के कारण यह अनन्त काल से... भले ही यह शुभराग-दया, दान, व्रत के परिणाम हों परन्तु भगवान आत्मा से विरुद्ध परिणाम का प्रेम, इसे तृष्णा-वर्द्धक है। पण्डितजी! समझ में आया?

भगवान आत्मा... यह कहते हैं। 'आत्मा का प्रेमी निर्वाण का पात्र है।' है? देखो!

जेहउ मणु विसयहँ रमइ, तिमु जइ अप्प मुणेइ।
जोइउ भणइ हो जोइयहु, लहु णिव्वाणु लहेइ॥५०॥

बहुत संक्षिप्त भाषा! योगी महात्मा योगीन्द्रदेव सन्त दिगम्बर महात्मा हैं। (वे) कहते हैं कि हे योगी! हे आत्मा का जुड़ान करनेवाले! पर का प्रेम छोड़कर, पुण्य-पाप का, शरीर, मन, वाणी, सारी दुनिया, आत्मा के अतिरिक्त सबका प्रेम छोड़कर जिसे आत्मा आनन्दकन्द का प्रेम लगा, उसे यहाँ योगी, उसे यहाँ धर्मी कहा जाता है। समझ में आया?

कहते हैं, हे धर्मी! 'जैसे मन विषयों में रमण करता है...' जैसे तेरा मन पाँच इन्द्रियों के शब्द, रूप, रस, गन्ध में रुचि करके रमता है.. समझ में आया? आत्मा अन्तर ज्ञायक चिदानन्दस्वभाव के अतिरिक्त, जो मन अन्तर के-आत्मा के प्रेम अतिरिक्त पूर्णानन्द का नाथ भगवान आत्मा की अन्तर जिसे रति, रुचि और प्रेम नहीं है, उसे पुण्य-पाप और बन्ध व उसके फल में उसका प्रेम है, तो कहते हैं कि जैसा प्रेम तुझे पर में है, वैसा प्रेम यदि आत्मा में करे (तो) अल्पकाल में तेरी मुक्ति होगी। कहो, समझ में आया?

'मणु जेहउ विषयहं रमइ' विषय शब्द से अकेले भोग आदि, ऐसा नहीं; आत्मा के अतिरिक्त शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श सब, हाँ! आहाहा..! जैसा शास्त्र के शब्दों को सुनने का प्रेम है, वह प्रेम भी पर में जाता है। आहाहा..! जैसा प्रेम इसे शब्द में, रूप में, गन्ध में, स्पर्श में, देव-शास्त्र-गुरु में या स्त्री, कुटुम्ब-परिवार में या आत्मा के अतिरिक्त किसी भी कर्म और शरीरादि में जैसा मन वहाँ लीन होकर रमता है... यहाँ ऐसा कहना है कि वह तेरा ही पुरुषार्थ है कि जहाँ पर में तू

रमता है-ऐसा कहते हैं। उसमें कहीं किसी कर्म-बर्म को याद नहीं किया। समझ में आया? है न?

'जैसे मन, विषयों में रमण करता है, यदि उसी प्रकार यह मन, आत्मा के ज्ञान में रमे तो...' एक ही सिद्धान्त है। भगवान आत्मा पूर्ण शान्त, आनन्द का रस है, उसका जिसे प्रेम नहीं लगा और जिसे प्रेम इन बाह्य पदार्थों में उल्लसित वीर्य से जहाँ अटका है, कहते हैं कि जैसे भाव से पर में प्रेम से अटका है, (वह) तेरे उल्टे पुरुषार्थ से (अटका है), कर्म के कारण नहीं, किसी (अन्य)



के कारण नहीं। भगवान आत्मा अनाकुल आनन्द की मूर्ति प्रभु की ओर का प्रेम छोड़कर, इसको-बाहर की चीज के प्रेम में जिसका मन लीन हो गया है, ऐसी लीनता तूने तेरे उल्टे पुरुषार्थ से की है। ऐसा ही उल्टा पुरुषार्थ जैसे ऐसा किया ऐसा जो गुलांट खा... गुलांट अर्थात् आत्मा के आनन्द में प्रेम कर तो क्षणमात्र में त्री मुक्ति होगी।

समझ में आया?

तुलसीदास कहते हैं- 'जैसी रति हराम से, तैसी हरि से होय, चला जाए बैकुण्ठ में, पला न पकड़े कोई।' आता है या नहीं? 'जैसी रीति हराम से'-पैसा, पाँच रुपचे मिलें, दस रुपये मिलें, स्त्री अनुकूल बोले, वहाँ (फूल जाता है कि) आहाहा..! पूरा होम हो जाता है, पूरा होम हो जाता है! स्वाहा! किसमें? इस पुण्य और पाप, राग और तृष्णा में स्वाहा (हो जाता है)। उसमें भगवान का धुआँ होता है। आहाहा..! भाई!

भगवान परमानन्द की मूर्ति प्रभु आत्मा है। उसका

प्रेम छोड़कर, जैसी लीनता पर मैं लगी, वैसी लीनता यदि तुझमें (सब में) करे, यह तेरे अधिकार की बात है। कर्म घटे और अमुक हो, उसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं। आहाहा..! यहाँ तो भाई! कर्म को याद भी नहीं किया। तू ऐसे (रमता है), वैसा ऐसे (स्व में) रम-ऐसा कहा है। यह कहते हैं, कर्म इसे रोकते हैं, कर्म घटे तो कुछ मोक्ष का मार्ग होवे... आहाहा..! भाई! तेरे शान्तरस का तुझे प्रेम नहीं है। समझ में आया?

आनन्दघनजी एक जगह कहते हैं, अपने आता है, नहीं? निर्जरा अधिकार में (आता है)। जहाँ रति... निर्जरा अधिकार... २०६ (गाथा) एक बार कहा था। पालीताना में कहा था, एक बार अहमदाबाद में कहा था। रति... रति... हे आत्मा! आत्मा में रति कर। आत्मा में रति कर का अर्थ यह कि देह की क्रिया मुझे लाभदायक है, पुण्य-पाप के परिणाम मुझे लाभदायक है (ऐसा जो मानता है), उसे आत्मा में रति नहीं है। समझ में आया? तेरा प्रेम पर ने लूट लिया है। एक जरा अनुकूल प्रतिष्ठा हो, बाहर प्रसिद्धि हो, बाहर में इसके गुणगान गाये जाते हों, बाहर प्रसिद्धि के लिए मथ जाये, वह मथ जाता है, पूरी जिन्दगी चली जाती है। पाँच-पाँच, पच्चीस-पच्चीस वर्ष पैसा कमाने में, उसकी वासना में उसे प्रसिद्धि पाने में, इसकी कुर्सी सामने आगे लेने का कितना प्रेम है कि जीवन आत्मा को खोकर, आत्मा को खोकर और खो जाये परन्तु पर का प्रेम नहीं छोड़ता। कहो, भाई!

मुमुक्षु :- लुटेरे प्रेम लूट ले जायें, उसमें यह क्या करे?

उत्तर :- यह लुटाता है। लूटे कौन? आहाहा..!

जैसा मन.. समझ में आया? यह कहा न, रति का? आनन्दघनजी एक जगह कहते हैं 'कहाँ दिखाऊँ और को कहाँ दिखाऊँ भोर, तीर अचूक है प्रेम का लागे रहे सो ठोर, कहा दिखाऊँ और

को'-इस आत्मा का प्रेम, आत्मा शुद्ध चैतन्य की अन्तर की दृष्टि के प्रेम को दूसरे से क्या कहें? कहते हैं और 'कहाँ दिखाऊँ भोर' इसके प्रकाश की महिमा किसे दिखायें? 'तीर अचूक है प्रेम का' यह अचूक तीर का प्रेम लगा, अन्दर भगवान आत्मा के ऊपर... 'लोग रहे सो ठोर' इस आत्मा का प्रेम हुआ, (इसलिए) वहीं इसकी रुचि बारम्बार जाती है। संसार के प्रेमी संसार की कोई भी विविध प्रकार की चीजें देखकर (उनमें प्रेम करते हैं)। समझ में आया?

खाने बैठा हो और विविध प्रकार के नमूने खाने में परोसे तो वहीं इसे लक्ष्य रहता है। यह क्या आया? चावल आये, क्या कहलाते हैं तुम्हारे? चावल को क्या कहते हैं? तुम्हारे लड़के चावल खाते हैं वह क्या? इस आम के साथ यहाँ नहीं देते थे? चिवड़ा। यह विविध नमूने ऐसे देखता है कि इसमें चिवड़ा आता है? इसमें आम के टुकड़े आते हैं? इसमें मौसम्बी का रस रखा है या दूसरा पानी रखा है? यह विविध प्रकारों का प्रेम है (इसलिए) वहाँ देखा करता है। समझ में आया?

इसी प्रकार आत्मा के अतिरिक्त विविध प्रकार के पुण्य-पाप और पुण्य-पाप के बन्धन और बन्धन के अनुकूल-प्रतिकूल बाह्य फल... मूढ़ बाहर की प्रीति के प्रेम में भगवान आत्मा की प्रीति खो (बैठा) है। भले बाहर में त्यागी हुआ हो परन्तु जिसे अन्दर में बाह्य के राग में पुण्य, दया, दान का विकल्प उत्पन्न होता है, उसका जिसे प्रेम है, वह पूर्ण भोगी है, योगी नहीं-ऐसा कहते हैं। आहाहा..! हे जोगिया! कहा न? हे जोगिणा! आहाहा..!

भगवान आत्मा अन्दर परमात्मा के तेज के और नूर व आनन्द से भरा हुआ तेरा तत्त्व है। उसके प्रेम में एक क्षण भी प्रेम कर तो तेरा संसार-जन्म-मरण का नाश हो जाएगा-ऐसा जिसका प्रेम! ऐसा परमात्मा अन्दर में तू विराजमान है परन्तु जैसा प्रेम-

पर में लीनता है-ऐसा प्रेम यदि इसमें (आत्मा में) करे तो क्षण में सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त करके मुक्ति हुए बिना नहीं रहे। है न?

‘जैसे (मन) विषयों में रमण करता है यदि उसी प्रकार यह मन आत्मा के ज्ञान में रमे तो...’ ‘तिसु अप्प मुणेई’ ऐसा शब्द है न? आत्मा, भगवान आत्मा, जिसके तेज के एक समय के ज्ञान में तीन काल-तीन लोक विविध एक तत्त्व के अतिरिक्त जितने तत्त्व हैं, वे सब आत्मा की एक समय की दशा में ज्ञात हो-ऐसे तत्त्व हैं। फिर भी वे तत्त्व मेरे हैं-ऐसा ज्ञात नहीं होता। ऐसे आत्मा के चैतन्य के प्रेम में देख तो पूरी दुनिया तुझे अन्दर में प्रेम रहित (दिखेगी), उसका प्रेम कहीं लगेगा नहीं। ज्ञातादृष्ट होकर जगत की चीजों का जानने-देखनेवाला होगा, यह जानने-देखनेवाला हुआ, उसे पुण्य और पाप के भाव में भी प्रेम उड़ गया है। फिर यह साधन मुझे अनुकूल है और यह साधन प्रतिकूल है-ऐसा आत्मा के स्वभाव के प्रेम में यह बात नहीं रहती है। समझ में आया? आहाहा..!
‘मन आत्मा के ज्ञान में रमे तो शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त कर ले।’ तो अल्पकाल में केवलज्ञान प्राप्त करे और मुक्ति पाये।

योगीन्द्र आचार्य योगी अर्थात् धर्मात्मा.. योगी अर्थात् जिनका झुकाव बाह्य के झुकाव से छूटा है और जिनका झुकाव-दिशा आत्मा की तरफ हुई है-ऐसा धर्मी सम्यग्दृष्टि से लेकर (समस्त धर्मात्मा) जीवों को कहते हैं कि अरे! **‘मन को गाढ़भाव से अपनी आत्मा में रमाना चाहिए। तभी वीतरागता के प्रकाश से शीघ्र निर्वाण का लाभ होगा।’** पहला पद ले लिया क्योंकि आत्मवीर्य के प्रयोग से ही प्रत्येक कार्य का पुरुषार्थ होता है। ऐसा कहते हैं, देखो! **‘अज्ञानी जीव पाँचों ही इन्द्रियों के विषयों में जितनी आसक्ति से रमता है...’** यह भी वीर्य से (पुरुषार्थ से) है-ऐसा कहते हैं। तेरे उल्टे पुरुषार्थ से पाँच इन्द्रियों के विषयों में एकाकार (होता

है)। अरे.. वाणी सुनने में एकाकार (हो जाता है), वह भी तेरे पुरुषार्थ की पर में उल्टी उग्रता है-ऐसा कहते हैं। हैं? भावनगर से सुनने आते हैं।

वीतराग ऐसा कहते हैं कि सुनने के प्रेम को भी छोड़। आहाहा..! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय... हिरण की नाभि में कस्तूरी है परन्तु उसे कस्तूरी का पता नहीं है; इसी प्रकार यह आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सरोवर... सरोवर... सागर अन्दर है। आहाहा..! उसके प्रेम को छोड़कर पर में एकाकार (होकर) झुलस गया है। अतः एक बार गुलांट खा। पर का प्रेम छोड़कर यहाँ प्रेम कर! अपना प्रेम कर तो परमात्मा हुए बिना नहीं रहेगा। आहाहा..!

पाँच इन्द्रियों के दृष्टान्त दिये हैं न? जैसे हाथी स्पर्श में वशीभूत हो गया है न? हाथी स्पर्श इन्द्रिय में वशीभूत हो गया है; मछली रस में (वशीभूत हो गयी है)। मछली को (खाने में) रस होता है न? खाने में जरा आटा दे तो भी उसमें रस (आता है)। मछली को जाल में डालते हैं न? पानी में लोहे का कटिला जाल होता है न? उसमें आटा डालते हैं, आटा खाने आवे तो मछली वहीं पड़ जाये ऐसी लीन हो गयी है, मछली रस में लीन हो गयी है। भँवरा, कमल में (लीन हुआ है)। कमल इतना हो उसमें लिपट जाता है, बन्द हो जाता है, रसलीन हो गया है। फिर हाथी आकर पूरा कमल खा जाता है परन्तु उसके प्रेम को नहीं छोड़ता और पतंगा, दीपक की ज्योति में (लीन होता है)। लो, समझ में आया? पतंगा दीपक की ज्योति में भस्म हो जाता है। ऐसी बत्ती देखे तो... ऐसा जाये। विषय के प्रेम में पूरा शरीर भस्म हो जाये तो भी उसे पता नहीं रहता। कहते हैं कि यदि ऐसा प्रेम आत्मा में करे, वह भी तेरे पुरुषार्थ की गति का ही कार्य है। शरीर भस्म अर्थात् शरीर का कुछ भी हो परन्तु तुझे वहाँ नुकसान नहीं होगा। आहाहा..! समझ में आया? हिरण जंगल में पकड़े जाते हैं। लो न! कान का (संगीत का) शौकिन है न? सुनने में ऐसा लीन

हो जाता है ऐसा! वीणा बजाते हैं फिर मृग को मारते हैं। मृग ऐसे सुनने बैठा हो, ऐसे मुक्का मारते हैं। लीन हो गया है लीन, कहते हैं। समझ में आया?

‘दिन-रात आत्मा का ही स्मरण करना चाहिए।’ कहते हैं, जैसे इन पाँच इन्द्रियों के विषयों में, एक-एक में जैसे पाँचों लीन है, वैसे आत्मा में इसे लगन लगनी चाहिए। सम्यग्दर्शन में इसकी लगन लगे... सम्यग्दर्शन उसे कहते हैं कि आत्मा अखण्डानन्दमूर्ति की इसे अन्दर में लगन लगी हो। समझ में आया?

मुमुक्षु :- दूसरे रस का वेदन तो इसे ख्याल में है।

उत्तर :- ख्याल में है परन्तु यह चीज है या नहीं ऐसी? ख्याल में इसने क्या खड़ा किया है, वहाँ कहाँ ख्याल में है? प्रतिक्षण नया खड़ा करके यह... यह है, त्रिकाली ऐसा है, उसका इसे लक्ष्य नहीं है। क्षण में वेदनेवाला है कौन? स्वयं त्रिकाली है। बात (यह है कि) इसे पड़खा बदलना नहीं आता।

भगवान आत्मा.. जैसा प्रेम वहाँ है...यह वेश्या की आसक्ति (होती है), परस्त्री के लम्पट की कितने आशक्त होते हैं, देखो न! हैं? आहाहा..! देखो न! एक आता है न? उन सूरदास का नहीं आता। वे थे न? वेश्या के पास जाते, सर्प था, वेश्या के घर जाते सर्प था, उन्हें ऐसा लगा कि रस्सी है, ऐसा विचार कर सर्प को पकड़कर अन्दर गया, ऊपर चढ़ गया! हैं? सर्प है या रस्सी, भूल गया, वेश्या के प्रेम में... आता है या नहीं? भाई! हमने तो सब सुना है, हमने कहीं ऐसा पढ़ा नहीं है। ऐसा प्रेम! फिर उसने आँखें फोड़ डाली परन्तु आँखें फोड़ने से क्या होता है? समझ में आया? अपने को यह रूप नहीं देखना, यह रूप (नहीं देखने के लिये) आँखे फोड़ डालो परन्तु आँखे कहाँ रोकती हैं? वे तो जड़ हैं तेरा प्रेम पर में है, इसे छोड़ने के लिए अन्तर में प्रेम कर, तब बाहर की आँखे फोड़ी कहा जाएगा। आँखे, बाहर का क्या काम है वहाँ?

कहते हैं, **‘आत्मा के रस में ऐसा रसिक हो जाना चाहिए कि मान-अपमान...’** बहुत बोल लिये है न? जीवन-मरण, कंचन सुख में समानभाव रखना चाहिए। **‘जैसे धतूरा खानेवाला प्रत्येक जगह पीला रंग देखता है...’** देखो! धतूरा पीनेवाला सब चीजों को पीली देखता है। इसी प्रकार धर्मी को सभी चीजें अनित्य और क्षणिक दिखती हैं। एक नित्यानन्द भगवान आत्मा दृष्टि में आने पर सब चीजें क्षणिक, नाशवान् है। मैं अविनाशी आत्मा हूँ, एक अविनाशी मैं हूँ, बाकी सब नाशवान है। समझ में आया?

‘शुद्ध निश्चयनय से उसे जिस प्रकार अपना परमात्मरूप शुद्ध दिखता है, उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा परमात्मरूप शुद्ध दिखता है।’ निश्चय से, हाँ! निश्चयदृष्टि से जैसा अपना आत्मा पुण्य-पाप के रागरहित ज्ञात होता है, वैसी ही दृष्टि से ददूसरे आत्मा को भी वह देखता है। उसका आत्मा उन पुण्य-पाप के राग, शरीर, कर्मरहित (है), उसे आत्मा जानता है। समझ में आया? अपना भगवान आत्मा शुभ-अशुभ राग, बन्धन और फल रहित है-ऐसी दृष्टि जहाँ धर्मात्मा को (हुई)... योगसार अर्थात् आत्मा के योग की हुई... वह दूसरे आत्माओं को (भी वैसा ही देखता है)। वह आत्मरूप से तो इसे स्वीकार करता है, दूसरे आत्माएँ भी पुण्य-पाप के रागवाले हैं-ऐसा नहीं। पुण्य-पाप का राग तो आस्रव है। कर्म, शरीर तो अजीव है, उनका आत्मा है, वह तो ज्ञानानन्द अघण्डानन्द प्रभु है। ऐसे धर्मी, अपने आत्मा को जैसे निर्विकारी देखता है, वैसे ही दूसरों के आत्माओं को भी उनकी स्थिति को निर्विकारी देखता है। समझ में आया? आहाहा..! शरीर को देखे, परन्तु वह तो जड़ है-ऐसा देखता है। उसके पुण्य-पाप को जाने परन्तु वह तो विकार है-ऐसा जानता है। इसे-आत्मा को जाने तो निर्विकारी आत्मा है- ऐसा उसे जानता है। आहाहा..! कहो, समझ में आया?

‘लोक एक शुद्ध आत्मिक सागर बन जाता

है। उसी आत्मसागर में वह आत्मज्ञानी एक मत्स्य हो जाता है।' ऐसा कि आत्मा के आनन्द में स्वयं शुद्ध के प्रेम में पड़ा है न? (इसलिए) सब आनन्दमय आत्मा है-ऐसा भासित होता है। स्वयं जगत् के आनन्दरूपी सागर का मानो मत्स्य हो-मछली हो जाता है। आहाहा..! समझ में आया? 'ज्ञानी जीव ऐसा आत्मरसिक हो जाता है कि उसे तीन लोक की सम्पदा जीर्ण तृण के समान दीखती है।' समझ में आया? यह बात की। फिर तो बहुत लिखा है।

पूज्यपादस्वामी का आता है न? 'मोक्षार्थी के लिए उचित है...' मोक्ष के अर्थी को यह उचित है कि 'आत्मज्योति के विषय में प्रश्न पूछना...' प्रश्न करे तो आत्मा कैसा? आत्मा कैसे प्राप्त हो? आत्मा में क्या है? आत्मा प्राप्त होवे तो उसे क्या दशा हो? समझ में आया? आत्मार्थी-मोक्षार्थी को ऐसे प्रश्न करना चाहिए। आहाहा..!

मुमुक्षु :- हमारा दुःख कब मिटेगा-ऐसा (प्रश्न करना चाहिए)।

उत्तर :- दुःख मिटे यह। आत्मा का दुःख कब मिटे? दुःख कहाँ, यह स्त्री-पुत्र का दुःख है? आहाहा..! उसमें- 'अनुभवप्रकाश' में दृष्टान्त दिया है, नहीं? 'पानी में मीन प्यासी मुझ सुन-सुन हाँसी... पानी में मीन प्यासी।' पानी में मीन प्यासी। अनुभवप्रकाश में दृष्टान्त दिया है न? दूसरे में यह भजन है। एक व्यक्ति था, वह कहता-मुझे आत्मज्ञान दो। एक व्यक्ति एख साधु के पास गया, (जाकर कहा), मुझे आत्मज्ञान दो। तब (साधु ने) कहा-मेरे पास तो नहीं है परन्तु समुद्र में एख मछली है, उसके पास जा, मछली तुझे देगी। (वहाँ जाकर) मछली से कहता है भाई! तुम तो बड़े पुरुष हो, हमें किसी ने कहा है कि तुम (आत्मज्ञानी हो)। (तब) मछली कहती है, हाँ तुम बड़े पुरुष हो कि मुझे यहाँ ढूँढ़ने आये। मछली ऐसा कहती है-मेरा

एक काम करो। क्या? मछली कहती है-मुझे थोड़ा-सा पानी लाकर दो, प्यासी हूँ, बहुत वर्षों से प्यासी हूँ, एक पानी का प्याला लाकर दो, पानी का प्याला क्या करना है? यह पानी नहीं भरा है यह सब? (मछली कहने लगी) पानी भरा है ऐसा तुम कहते हो? तब तुम आत्मा ज्ञानरूप नहीं भरे हो? तुम कहाँ अन्दर से चले गये हो। हैं? मछली ने उससे कहा, मेरे लिए पानी लाकर दो। फिर मैं तुम्हारी प्यास... पानी तो तेरे पास है, यह रहा समुद्र, देख! तब तू कौन है? यह पूछनेवाला, जाननेवाला है कौन? मछली ऐसे (बाहर) नजर करती है, इसलिए पानी नहीं दिखता, ऐसे (अन्दर) नजर से दिखता है। इसी प्रकार यह अनादि का आत्मा पुण्य और पाप, राग और द्वेष, देहादि की क्रिया बाहर को देखता है परन्तु अन्दर में चिदानन्द जल से भरा हुआ समुद्र है, उसे नहीं देखता। समझ में आया?

भगवान आत्मा.. यह पानी में मीन प्यासी। भाई! इसी प्रकार आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है, अनाकुल आनन्द और ज्ञान का सागर अन्दर है परन्तु नजर करें तब न? इसे नजर करने का समय नहीं मिलता। आहाहा..! समझ में आया? इसलिए कहते हैं-इस आत्मा का प्रश्न करना, आत्मा की 'इच्छा करना...' चाह अर्थात् इच्छा; आत्मा का 'दर्शन करना।' इसकी लगन लगाना, दूसरी लगन छोड़कर; विकार और फल और अमुक की, ऐसा पुण्य किया और उसका फल क्या आएगा? छोड़ न होली अब... भगवान आत्मा सच्चिदानन्दमूर्ति है, अनाकुल आनन्द का समुद्र है, वहाँ देख। वहाँ तुझे शान्ति मिले ऐसा है। बाहर के क्रियाकाण्ड में कहीं धूल भी नहीं है। समझ में आया? यह दया, दान, भक्ति का परिणाम यह सब राग के भाव हैं। इस राग में आत्मा नहीं है। इसमें धर्म नहीं और राग में आत्मा भी नहीं, इसका प्रेम छोड़कर आत्मा का प्रेम कर। अब, (५१वीं गाथा में) जरा शरीर की जीर्णता बतलाते हैं।



पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार
ग्रंथके ९५४ वचनामृत पर भाववाही
प्रवचन, दि. २२-६-१९८५, प्रवचन
क्रमांक-५६८ (विषय : विधि)

कंचन, कामिनी और कुटुम्ब-इन तीनोंका त्याग करो तो धर्म होगा, अज्ञानी ऐसा कहते हैं। वे तो छूटे हुए ही हैं, फिर भी मैं उनको छोड़ता हूँ-यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। आमा उनसे पृथक् है व रागरहित है-ऐसे आत्माके भानपूर्वक राग छूटे, तो ही कंचन, कामिनी व कुटुम्बरूपी-निमित्त छूटे हुए कहलाए, अन्यथा निमित्त भी छूटे हुए नहीं कहलाते। स्वरूपमें लीन होना सो चारित्र है, बाह्य-त्याग चारित्र नहीं है। अज्ञानी कहते हैं कि बाह्य-वस्तु त्यागो तो अंतरमें राग छूटेगा, पर वह बात मिथ्या है। ९५४.

(पीछले अंक-से आगे...)

मुमुक्षु :- अपनेमें तो वह गुण है नहीं और दूसरेमें वह त्याग एवं वैराग्यका गुण हो तो?

पूज्य भाईश्री :- नहीं, लेकिन वहाँ त्यागका गुण नहीं है। गुणको गुण मानना। अवगुणको गुण कैसे मानें? अपनेमें दोष हो तो अपना दोषका अपने स्वीकार करना, अपने दोषकी निंदा करना, अपने दोषका खेद करना और अपने दोष मिटानेके लिये प्रमाणिकपने प्रयत्नवान रहना। स्वयंके हितके लिये। किसीके लिये नहीं। बराबर है? अब बात रही दूसरेके त्यागकी। दूसरेका त्याग यथार्थ है कि नहीं? वह यथार्थ हो तो स्वीकृत करना, अन्यथा नहीं। नहीं दो जिस रास्ते पर वह जा रहा है, उसी रास्ते पर तू चला जायगा। तू उसका अनुमोदन करेगा तो तू भी वही करेगा, दूसरा क्या करेगा?

मुमुक्षु :- फँस जाय।

पूज्य भाईश्री :- फँस ही जाय, दूसरा कुछ नहीं हो।

मुमुक्षु :- अपने-से तो अच्छा है न?

पूज्य भाईश्री :- नहीं, बिलकूल ऐसा नहीं है। ऐसा बिलकूल विचार नहीं करना। अपने-से अच्छा नहीं है। बिगड़ा हुआ दूध हो तो मट्टेसे अच्छा है या नहीं? मट्टे-से तृषा छीपेगी, रोटीके साथ खाय तो रोटी गलेके नीचे ऊतरेगी। परन्तु बिगड़े हुए दूध-से ना तो तृषा छिपती है, ना तो आहार किया जाय। ऐसा है। इस प्रकार बाह्य त्यागके व्यामोह-से बाह्य त्यागकी प्रशंसा करने जैसा नहीं है। उसकी प्रशंसा करना वह बहुत बड़ा दोष है।

मुमुक्षु :- थोड़ी निवृत्ति तो ली है न?

पूज्य भाईश्री :- अल्प भी निवृत्त नहीं हुआ है। वह अस्तिमें आया, निवृत्त स्वरूपमें वृत्ति गयी तो निवृत्त हुआ, नहीं तो निवृत्त ही नहीं हुआ है। फिर कहाँ प्रश्न है? बाह्य दिखाव-से ठगाते हैं, वह

बाह्यदृष्टि जीव हैं, बालजीव हैं कि जिनको इस विषयमें कुछ मालूम नहीं पड़ता। ऐसी परिस्थिति है उसकी।

अब कहते हैं कि **‘स्वरूपमें लीन होना सो चारित्र है।’** त्याग तो चारित्रके प्रकरणमें जाता है न। इसलिये यहाँ चारित्रके साथ सम्यग्दर्शन एवं मिथ्यादर्शनको क्या सम्बन्ध है, इसकी स्पष्टता करते हैं। गुरुदेवके प्रवचनोंकी अत्यन्त सुन्दर शैली यह है कि चारित्रके, ज्ञानके, श्रद्धानके, पुरुषार्थके, सुखके सब प्रयोजनभूत मुद्देकी चर्चा करते समय सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शनकी बात साथमें रखते हैं कि यहाँ सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शनको क्या सम्बन्ध है? इस तरह साथमें लेते हैं। और उसके बिना उस-उस मुद्देकी सत्यता एवं असत्यता निश्चित हो सके ऐसा नहीं है। ऐसा है। वह कब सच्चा? त्याग कब सच्चा? पुरुषार्थ कब सच्चा? सुख, सच्चा सुख कब? ज्ञान भी कब सच्चा? वह सब बात स्पष्ट की है। एक-एक बात। और हज़ारों दृष्टान्त-से और सैंकड़ों पहलूओं-से। एक-एक बातके अनेक पहलू खोल-खोलकर। श्रुतका समुद्र उछला था। अन्दरमें-से सुखका श्रुतका समुद्र उछला था। वह बिना पढ़े सब निकाला। अन्दर-से, आत्मामें-से सब निकाला।

मुमुक्षु :- इतने वर्षोंमें कभी कोई इधर-ऊधरकी बात नहीं। कुछ नहीं।

पूज्य भाईश्री :- कोई भी, ३०-४० साल पहलेका प्रवचन निकालो। धारावाही बात आ रही है। बहुत लोग कहते हैं कि गुरुदेवकी बात अब बहुत अच्छी आती है, हाँ! अब क्या अच्छी आती है, पहले-से अच्छी ही आती थी। लेकिन उसकी अच्छाई तुझे पहले लगी नहीं थी। अब कुछ लगने लगी है। बाकी प्रथम-से ही अच्छी है। अभी-अभी गुरुदेवकी बात बहुत अच्छी आती है, अभी-अभी (बहुत अच्छी बात आती है)। लेकिन अभी नहीं, भाई! वह तो पहले-से ही आती है। मूल जो चीज

ग्रहण की है, सुन्दरमें सुन्दर, सर्वगुणसंपन्न भगवान सर्वगुणसंपन्न है, उसे ग्रहण किया है, उस आसन पर विराजमान हुए हैं, भगवानकी गद्दी पर विराजमान हुए हैं। कहते थे, भगवानकी गद्दी पर बैठकर बात करते हैं। ऐसा कहते थे, बहुत स्पष्ट कहते थे। यह भगवानकी गद्दी पर बैठकर कहा जाता है। ऐसा कहते थे। कितनी निःशंकता और कितनी प्रतीति है! पूर्वभव याद नहीं है, लेकिन ऐसा कहे कि अभी समवसरणमें सीमन्धर परमात्मा ऐसा फरमाते हैं। ऐसा कहे। अनन्त तीर्थकरोंने भूतकालमें ऐसा ही कहा है। उतनी निःशंकता।

यहाँ चारित्रका विषय लिया है। **‘स्वरूपमें लीन होना सो चारित्र है,...**’ चारित्रका दो प्रकारका परिणामन है। स्वरूपमें स्थिरता सो सम्यक् चारित्र स्वभावचारित्र है और स्वरूप-से उपयोग चंचल होकर बाहर जाय, परिणाम बाहर जाय, अस्थिरता हो, उसे अचारित्र अथवा चारित्रका विकार कहनेमें आता है। विभाव कहनेमें आता है। परिणाम तो स्वाभाविक और विभाविक दो प्रकार-से है। यहाँ स्वरूप लीनता सो चारित्र है। ऐसा नहीं कहा कि बाह्य त्याग सो चारित्र है। व्रत लिया वह चारित्र है, महाव्रत लिया वह चारित्र है, त्याग किया, संयम धारण किया वह चारित्र है, ऐसा कुछ नहीं कहा। स्वरूपमें लीनता की वह चारित्र है। ऊलटा ऐसा कहते हैं कि **‘बाह्य-त्याग चारित्र नहीं है।’** लोग जिसे चारित्र कहते हैं वह तो चारित्र नहीं है। अथवा बाह्य पदार्थोंका त्याग करनेका विकल्प हुआ वह भी चारित्र नहीं है। बाह्य पदार्थका त्याग हुआ वह तो आत्माका चारित्र नहीं है। क्योंकि वह तो आत्माका परिणामन नहीं है, वह तो बाह्य पदार्थका परिणामन है। लेकिन उस त्यागका विकल्प हुआ वह चारित्र है कि नहीं? वह भी चारित्र नहीं है। संयम पालनेका विकल्प हुआ वह चारित्र है कि नहीं? नहीं, वह भी चारित्र नहीं है, ऐसा

कहते हैं। स्वरूपमें लीन होना सो चारित्र है। यह चारित्र नहीं है। राग है सो चारित्र नहीं है। राग तो अचारित्रभाव है। अशुभ राग तो निर्विवादरूप-से अचारित्रभाव है, लेकिन संयम आदिका शुभ राग भी अचारित्र भाव है। इसलिये तो लोग भड़के। संप्रदायके जीव भड़क गये कि कानजीस्वामी यह क्या कहते हैं? हम आजीवन ब्रह्मचर्य बचपन-से पालते हैं और वह ब्रह्मचर्य धर्म नहीं है, वह ब्रह्मचर्य वास्तविक संयम नहीं है, यह बात हम कैसे मानें? कहते हैं, खड़ा रह। उसमें कुछ मर्म कहना चाहते हैं। वह शुभ राग अनन्त बार किया है, परन्तु उसमें आत्माको शान्ति प्रगट नहीं हुई। अथवा वह आत्माका धर्म नहीं है। वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप धर्म नहीं है। ब्रह्मे चरति इति ब्रह्मचर्य। ब्रह्म नाम आत्मा है वहाँ। उसका नाम ब्रह्मचर्य है। बाह्य राग वह वास्तविक ब्रह्मचर्य नहीं है।

इसलिये कहा कि वह 'चारित्र नहीं है'। यह तो साधारण है, परन्तु मुनिदशाके अट्टाईस मूलगुण और पंच महाव्रतका राग, वह भी अचारित्र भाव है। मुनिराज स्वयं ऐसा कहते हैं कि वह प्रमाद दशामें उत्पन्न होनेवाले परिणाम हैं। हमारी आत्माकी शुद्धिपूर्वक सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तो है, मोक्षमार्गमें हम खड़े हैं, फिर भी ये जो पंच महाव्रत एवं अट्टाईस मूलगुणके विकल्प प्रमाददशामें आते हैं, वह अचारित्र भाव है। जिसे व्यवहार चारित्र जिनेन्द्र कहते हैं, वह निश्चय-से तो अचारित्र है। अज्ञानीके-मिथ्यादृष्टिके लिये तो प्रश्न ही नहीं रहता। लेकिन सच्चे मुनि भावलिंगी संत हो, तो भी उनकी स्वरूप लीनता चारित्र सो चारित्र है। उनके भी रागादि भाव सो चारित्र नहीं है। व्यवहार रत्नत्रय कहते हैं न? साथमें निश्चय रत्नत्रय है इसलिये उसे भी रत्न कहकर मान दिया है। लेकिन फिर भी उस रत्नको छोड़ देनेकी बात है।

'स्वरूप लक्षे जिनाज्ञा आधीन जो'। क्या कहा

है? बात ली है न? संयमकी प्रवर्तना। मन-वचन-काय-से संयमकी जो प्रवर्तना है, वह जिनाज्ञा आधीन है। इसलिये जिनेन्द्रने कही हुई मर्यादा अनुसार है। वह मर्यादा तोड़कर नहीं। तो भी उसमें एक शर्त है कि स्वरूप-लक्ष्य-से। स्वरूपका लक्ष्य छोड़कर नहीं। वह जो भी हो रहा है, वह स्वरूप-लक्ष्य-से हो रहा है। बाह्य त्याग बाह्य त्यागके लक्ष्य-से धर्मीको नहीं होता। यह बहुत बड़ा सिद्धान्त है। अरे..आह शास्त्र स्वाध्याय आदि कोई प्रक्रिया, बाह्य त्यागकी प्रक्रिया या शास्त्र स्वाध्यायकी प्रक्रिया, कोई भी क्रिया धर्मीको स्वरूप-लक्ष्यपूर्वक होती है, यह एक बहुत बड़ी शर्त है।

मुमुक्षु :- स्वरूप लक्ष्य-से माने?

पूज्य भाईश्री :- स्वरूप लक्ष्यमें-से खिसके बिना। मैं परिपूर्ण वीतरागस्वरूप रागादि एवं परसंयोग-से रहित हूँ, ऐसे स्वरूप लक्ष्यपूर्वक 'ऐसा हूँ' ऐसा उसका लक्ष्य ज्ञानमें रहता है, उस पूर्वक, सब क्रियाएँ हैं। और तब उस क्रियाको व्यवहार ऐसा नाम प्राप्त होता है। व्यवहार कहने जितनी क्रीमत स्वरूप लक्ष्यके कारण है। यदि स्वरूप-लक्ष्य न हो तो वह व्यवहार भी नहीं है। सब गड़बड़ है। व्यवहारके नाम पर सब गड़बड़ है। निश्चय तो है ही नहीं, परन्तु उस व्यवहारके नाम पर सब गड़बड़ है। लोग तो निश्चय मानकर करते हैं कि ये धर्म हो गया। लेकिन उसका तो वहाँ सवाल ही नहीं है।

'बाह्य-त्याग चारित्र नहीं है, अज्ञानी कहते हैं कि बाह्य वस्तु त्यागो तो अंतरमें राग छूटेगा, पर वह बात मिथ्या है।' लोगोंने क्या सिद्धान्त पकड़ा है? मूल मार्ग प्राप्त नहीं हुआ, इसलिये मूल मार्ग खोजनेके बजाय टेढ़े मार्ग पर चढ़ गये। इसलिये बाह्य वस्तु छोड़ो, बाह्य वस्तु छोड़ोगे तो राग भी छूटेगा। और कितनों को ऐसा लगता भी है कि, अब हमको विकल्प नहीं है। पहले विकल्प होता

था। परन्तु हमने जो यह प्रतिज्ञा की, व्रत लिया, पच्चखाण लिया अब हमको विकल्प नहीं होता। राग छूटा कि नहीं? त्याग करने-से राग छूटा कि नहीं? नहीं छूटा तुझे। वह छूटा, नहीं छूटा वह भी तुझे मालूम नहीं पड़ता। ऐसा है। वह छूटा है वह बात सत्य है? बिलकूल जूठी बात है, ऐसा कहते हैं।

अरागी-वीतरागी स्वरूपके ग्रहण-से वीतरागता उत्पन्न हो तब राग छूटता है। अब रागरहित स्वरूपका ग्रहण हुआ नहीं और पदार्थका संयोग मिटा और थोड़ी देर विकल्प नहीं दिखा, वापस हो जायगा। वह तो थोड़ी देर नहीं है। इसलिये तू थोड़ी देरमें ऐसा माने कि अब मुझे सदाके लिये विकल्प छूट गया, तो तेरी वह बात जूठी है। तू ठगाया है। तेरा विकल्प वास्तवमें छूटा नहीं है। राग छूटा नहीं है, राग पड़ा है, वह ज्ञान बिनाका राग स्वरूपको ग्रहण करनेके ज्ञान रहित राग, रुंधा हुआ कषाय है। ठीक! वह मंद कषायमें प्रवर्तता है और आप ऐसा कहते हो कि रुंधा हुआ कषाय है। हाँ। वह ऊपर-ऊपरसे कषाय मन्द हुआ है। अन्दरमें तो बराबर भरा हुआ है। ऐसा है। वह ज्ञानीकी नज़र है।

मुमुक्षु :- सोगानीजीने कहा दूसरी दुकान खोलता है, यह बंद करता है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ। दुकान पर वहीखाता देखता है और यहाँ आकर शास्त्र देखता है। दोमें कोई अंतर नहीं है, ऐसा लिया। वह शास्त्र वांचनकी क्रिया पर लिया है। स्वरूप-लक्ष्य कर। प्रथममें प्रथम यह बात है। स्वरूप लक्ष्य रहित क्रिया, वह लक्ष्य रहित बाण छोड़ने जैसा है। कोई आदमी अन्धेरेमें एकके बाद एक तीर छोड़ता रहे। उसका क्या मतलब है? पूरी रात लड़ाई की। जितने बाण थे वह सब खत्म कर दिये। लेकिन कहाँ डाले वह तो कह। वह कुछ देखना नहीं है, वह देखना नहीं, घोर अन्धकार था, उसमें क्या दिखे? मैं तो छोड़ता ही रहा। व्यर्थ परिश्रम

किया, दूसरा कुछ नहीं हुआ। लक्ष्य रहित बाण है। जो कोई क्रिया हो, उसमें मुख्य बात उसका लक्ष्य कहाँ है उस पर है।

आदमी व्यवहारमें भी क्या करता है? हज़ारो कानून हैं। कानून अनुसार सरकार राज करती है? कानूनके अनुसार राज करती है? ऐसा नहीं। कानून वही रहता है, कोई भी सरकार आये और जाय, उसकी पोलिसी क्या है? ऐसा कहे। क्या? उसकी पोलिसी क्या है? अर्थात् किस लक्ष्य-से कानूनका इस्तमाल करना? कानूनका इस्तमाल तो कानूनका करना होगा। परन्तु किस लक्ष्य-से करना? यह सवाल है। और उस पर सब बात निर्भर करती है। सब बात उस पर निर्भर होती है। उस प्रकार सब बातें.. यहाँ भी अपने एक बोल आ गया, बहुत अच्छा बोल था। लक्ष्यके विषय पर। ३५९. वही है, ३५९.

‘मैं पूर्णानंदका नाथ ज्ञायक प्रभु हूँ’ ऐसे लक्ष्यसे जीव सुनता है;... किस जीवकी बात ली है? जिसे स्वरूप सन्मुख होकर स्वानुभव हो ऐसे जीवकी बात है। **‘उसे सुनते हुए भी ज्ञायकका ही लक्ष्य रहता है। उसे चिन्तनमें भी ऐसा जोर रहता है कि मैं परिपूर्ण ज्ञायक वस्तु हूँ...’** लक्ष्य रहे तब उसका जोर रहे। लक्ष्य रहे तब उसका वज़न रहे, लक्ष्य रहे तब उसकी रुचि वहाँ रहे। **‘उस जीवको...’** अर्थात् वह रुचि श्रद्धामें जाती है, जोर पुरुषार्थमें जाता है, लक्ष्य जानमें जाता है और परिणाम उस मुड़ते हैं वह चारित्रमें जाता है। वह सब लक्ष्य आधारित है। **‘उस जीवको सम्यक्-सन्मुखता रहती है। मन्थनमें भी ज्ञायकका ही लक्ष्य रहता है। यह चैतन्य-भाव परिपूर्ण वस्तु है,...** यह अर्थात् विद्यमान प्रत्यक्ष। **‘उसे ऐसा जोर रहा करता है; भले ही उसे अभी सम्यग्दर्शन न हुआ हो। जितना कारणरूप पुरुषार्थ करना चाहिए उतना पुरुषार्थ न कर**

सके, तो भी उस जीवको सम्यक्-सन्मुखता होती है। ऐसे जीवको अन्तरमें ऐसी लगती है कि 'मैं जगतका साक्षी हूँ...' निर्भ्रान्त दर्शनकी पगडण्डीमें यह लिया है।

'ज्ञायक हूँ। अन्तरमें ऐसे दृढ़ संस्कार डाले कि जो फिर न बदले।' गुरुदेवके अनेक प्रवचनोंमें जहाँ स्वरूप-लक्ष्यका विषय मुमुक्षुओंको निरूपण किया है वहाँ साथ-साथ संस्कारकी बात की है। अनेक प्रवचनोंमें। जहाँ लक्ष्यकी बात की है, वहाँ संस्कार डलनेकी बात की है। उस जीवको पुरुषार्थकी उग्रता होकर... सन्मुखता तो हो गयी, उग्रता होकर अनुभव पर्यंत न पहुँचे तो उसे संस्कार डल जायेंगे। उस संस्कारके बल-से दूसरे भवमें भी स्वतत्त्वको-स्वद्रव्यको ग्रहण कर लेगा। ऐसा कहा है।

'अन्तरमें ऐसे दृढ़ संस्कार डाले कि जो फिर न बदले। जैसे सम्यग्दर्शन होने पर अप्रतिहत भाव बतलाया है, वैसे ही सम्यक्-सन्मुखतामें ऐसे दृढ़ संस्कार पड़ते हैं कि उस जीवको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति निश्चित है।' वह संस्कार है वह अप्रतिहत भाव है, ऐसा लिया है। वह बात बहुत लेते हैं। अनेक जगह उनके प्रवचनोंमें जहाँ लक्ष्यका विषय आया है, वहाँ संस्कारकी बात की है।

क्या कहते हैं? इस प्रकार, बाह्य वस्तुके त्यागमें रागका त्याग होगा ऐसी भ्रान्तिमें रहने जैसा नहीं है। वह भ्रान्तिगत बात है। वहाँ-से प्रारंभ करनेके बजाय रागरहित परमात्माका अस्तित्व ग्रहण करना, तो राग भी मिटे और संयोगका त्याग सहजपने स्वयं हो जाय, करना पड़े नहीं अपितु हो जाय। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न

हो ऐसा सरल मार्ग क्यों नहीं ग्रहण करना? और वह सरल मार्ग छोड़कर विपरीत मार्ग क्यों ग्रहण करना?

कितने ही जीव तो सरल मार्ग जानते नहीं है और अनादि-से विपरीत मार्ग पर है। परन्तु जिसे यह प्राप्त हुआ, उसे तो अपनी विपरीतता एवं असरलता छोड़कर सरलपने सुलटे मार्गको ग्रहण कर लेना चाहिये। सुनने मिला बादमें तो उसे अपनी बातकी पकड़ छोड़ देनी चाहिये कि यह त्याग-से राग मिटानेकी बात छोड़ दो। त्याग-से राग नहीं मिटेगा। राग वीतरागता-से मिटेगा और वीतरागता वीतराग स्वरूपके श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रसे उत्पन्न होगी। इस तरह मार्ग ग्रहण करनेकी जरूरत है। उसके बदले बाहरमें अनादि-से जो पहले ग्रहण करनेकी लड़ाई करता था कि यह लूँ और वह लूँ, पूरी दुनिया उसे घरमें लानी थी। प्राप्त करनेके लिये व्यर्थ प्रयत्न करता था, अब छोड़नेका प्रयत्न करने लगा कि अब छोड़ दूँ, यह सब छोड़ दूँ, सब छोड़ दूँ, सब छोड़ दूँ, सब छोड़ दूँ। ऐसा करना छोड़ दे। वह मार्ग नहीं है, वह उपाय नहीं है। उपाय तो अन्दरमें तेरा जो परमात्मा है, परमपद है, निर्दोष परमात्मा है, उसकी श्रद्धा कर, उसका ज्ञान कर, उसमें लीन हो। तब तुझे सब सुलटा है, अन्यथा एक भी बात सुलटी नहीं है। तेरा सब सुलटा है। ऐसा होने पर सब सुलटा है, अन्यथा एक भी बात सुलटी नहीं है। इस प्रकार सत्य पंथ ग्रहण करना चाहिये। असत्य पंथ पर उसका सत्य फल प्राप्त हो, सच्ची जगह पहुँचा जाय ऐसा नहीं बनता। यहाँ तक रखते हैं...

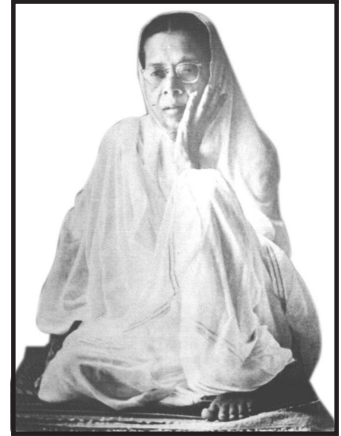


ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (मई-२०१८) का शुल्क एक मुमुक्षु, भावनगर के नाम से साभार प्राप्त हुआ है। जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

प्रश्न :- जिसे संसार दुःखमय लगे और आत्माकी महिमा आये तो वह आत्माकी खोज करे-क्या यह यथार्थ है?

समाधान :- जिसको संसार दुःखमय लगे और आत्माकी जिज्ञासा-पिपासा जगे उसीको आत्माकी महिमा आती है। जिसको संसारमें तन्मयता होती है उसको अपनी महिमा नहीं आती। जिसे संसारमें दुःख लगे की यह संसार अच्छा नहीं है, दुःखरूप है, और आत्मवैभव ही जगतमें अनुपम है, ऐसी उसे आत्मजिज्ञासा जगे, महिमा आवे तो वह आत्माको देखनेका प्रयत्न करे। वह आत्मा कौन दिखलाये? आत्मा कहाँ है?-ऐसी जिज्ञासा होती है तो वह खोज करता है।



(स्वानुभूतिदर्शन-६२२)



प्रश्न :- परको जानना दुःखका कारण है या रागका करना वह दुःखका कारण है?

समाधान :- परको जानना वह दुःखका कारण नहीं है; किंतु परके प्रति राग करना वह दुःखका कारण है।

(स्वानुभूतिदर्शन-६२३)



प्रश्न :- मुझे आत्मा प्राप्त करना ही है-ऐसी भावना लेकर प्रारंभ किया था; वह भावना यदि मंद हो जाय तो क्या निर्णय बदल जाता है?

समाधान :- मुझे तो आत्मकार्य ही करना है, वह भावना, यदि मंद पड़े तो निर्णय बदल जाता है। आत्मा ही सर्वस्व है ऐसा करके निर्णय किया हो और यदि भावना बदल जाय तो उसका निर्णय भी डावाँडोल होनेका अवकाश है।

(स्वानुभूतिदर्शन-६२४)



प्रश्न :- स्वानुभूतिकी दशा तो वचनातीत है परंतु आपने जो संकेत किया उसमें कुछ और विशेष कहिये।

समाधान :- वह वचनसे कहनेकी बात नहीं है। स्वानुभूतिमें आनंद-तरंगे उछलती हैं। आत्मा का स्वभाव अद्भुत, अपूर्व एवं आश्चर्यकारी है। आत्मामें आनंदगुण है, इसलिये स्वानुभूति होनेपर आत्मा आनंद-तरंगोंमें डोलता है। अनंतगुण एवं पर्यायोंसे परिपूर्ण आत्माका जैसा स्वरूप है वैसा स्वानुभूतिमें प्राप्त होता है। स्वानुभूति होनेपर आत्मा जिन आनंद-तरंगोंमें डोलता है वह आनंद जगतसे जुदा है, निराला है तथा वह वचनातीत है। यद्यपि ऐसा कहा जाता है कि आत्मा आनंद-तरंगोंमें डोलता है; बाकी तो उसे अनंतगुणोंकी विभूति प्रगट होती है, उसमें वह डोलता है। मुख्यरूपसे (वेदनमें) आनंदगुण है, इसलिये आनंद-तरंगोंमें डोलता है ऐसा कहा जाता है।

द्रव्य (सर्वथा) कूटस्थ है, कोई कार्य नहीं करता ऐसा नहीं है। वह परिणमता है, पर्यायोंकी तरंगें उछलती हैं। द्रव्यपर दृष्टि होनेसे उसकी दृष्टि पर्यायके ऊपर नहीं है, परंतु उससे उसे स्वानुभूतिकी पर्याय प्रगट नहीं होती ऐसा नहीं है। पर्यायोंमें आनंदकी तरंगें उछलती हैं और वे वचनातीत हैं, वचनमें आयें ऐसी नहीं हैं; द्रव्य-गुण-पर्यायसे शोभित आत्मा अपूर्व है, अद्भुत है एवं आश्चर्यकारी है। अनुभूति होनेपर वह आनंद-तरंगोंमें डोलता है-ऐसा वह जगतसे निराला तत्त्व है।

(स्वानुभूतिदर्शन-६२५)

प्रश्न :- क्रोधका उदय आये तो उससे बचनेके लिये ज्ञानी क्या करते हैं?

समाधान :- 'मैं तो शांतस्वरूप हूँ'-ऐसी ज्ञायककी परिणति ज्ञानीको प्रगट हुई होनेके कारण ज्ञायककी डोर उसे क्रोधसे वापस खींच लेती है, वह क्रोधमें मर्यादासे बाहर नहीं जाता। उसे ऐसा भेदज्ञान है कि क्रोधमें एकत्व नहीं होता, क्रोधसे पृथक् का पृथक् ही रहता है, ऐसी भेदज्ञानकी धारा उसे वर्तती है।

मुमुक्षु :- उपयोग तो क्रोधमें होता है, तो क्या वह उपयोगको वापस मोड़ लेनेका प्रयत्न करता है?

बहिनश्री :- उपयोग भले ही क्रोधमें हो, परंतु ज्ञायककी डोर चल ही रही है, इसलिये क्रोधमें एकत्व नहीं होता और उपयोगको वापस मोड़नेका प्रयत्न करता है। ज्ञानीकी परिणति तो पृथक् की पृथक् रहती ही है, परंतु उपयोग भी अधिक बाहर न जाये वैसे उसे सहजरूपसे वापस मोड़ते हैं। ज्ञानीको भेदज्ञानकी धारा वर्तती है, विरक्तिकी परिणति प्रगट हुई है तथा ज्ञायक उसके हाथमें है, इसलिये परिणति भी अंतरमें पृथक् परिणमती है। अमुक अंशमें स्थिरता-लीनता वर्तनेके कारण उसे अमुक अंशमें शांतपना छूटता ही नहीं। बाहरसे चाहे जैसा दिखाई दे, किन्तु क्रोधमें वह एकदम आकुल-व्याकुल नहीं होता।

(स्वानुभूतिदर्शन-६२६)



प्रश्न :- सर्वज्ञकी प्रतीतिपूर्वक क्रमबद्धको समझे तो उसमें पुरुषार्थ आता है?

समाधान :- उसमें पुरुषार्थ तो आता ही है। भगवानने जो क्रमबद्ध देखा है वह पुरुषार्थके साथ ही देखा है। जो जीव पुरुषार्थ करता है उसको भवका अभाव होता है। यदि ज्ञायकका पुरुषार्थ करता है, ज्ञाता होता है तो भवका अभाव होता है। जो ज्ञायकका पुरुषार्थ नहीं करते और क्रमबद्धकी बात करते हैं तो उन्हें नुक्सान होता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-६२७)



प्रश्न :- ज्ञानीकी अंतरंगदशा कैसी होती है?

समाधान :- ज्ञानीकी अंतरंगदशा कोई अलग ही प्रकारकी है। भेदज्ञानकी सहजधारा निरंतर वर्तती है। ज्ञायककी धारा होनेसे जो-जो विकल्प उठते हैं उन सबसे ज्ञानी भिन्न रहते हैं। ज्ञानी विकल्परूप ज्ञायक नहीं अपितु परिणतिरूप ज्ञायक रहते हैं।

जैसे अज्ञानीको अनादिसे एकत्वबुद्धि चल रही है वैसे ही ज्ञानीको भेदज्ञानकी परिणति सहज वर्तती है, सहज पुरुषार्थ रहता है। बाह्यमें सब (गृहस्थजीवन) दिखनेमें आता है, किन्तु उनके अंतरंगको ग्रहण करे तो उनकी दशा पकड़नेमें आती है। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी बाह्यमें तो गृहस्थाश्रममें रहते हैं लेकिन उनका अंतरंग परिचय हो तो खयालमें आये कि उनका हृदय भीतरमें क्या है? यदि ज्ञानी गृहस्थाश्रममें हों तो उन्हें पहिचानना मुश्किल होता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-६२८)



प्रश्न :- आपके वतनामृतमें ज्ञान-वैराग्यकी धाराका उल्लेख अनेक बार आया है तो उसका भाव क्या लेना?

समाधान :- 'मैं तो ज्ञायकस्वरूप हूँ, विभाव मेरा स्वभाव नहीं है'-ऐसे ज्ञायकको यथार्थरूपसे पहिचानकर ग्रहण करता है तब समस्त विभावोंसे विरक्त होता है। जितने कार्य बाह्यमें होते हैं और अंतरमें जितने विकल्प आते हैं उन सबसे वह न्यारा हो जाता है और वही वास्तवमें सच्ची विरक्ति है। अलौकिक ज्ञान द्वारा ज्ञायकको ग्रहण करते ही ज्ञान-वैराग्यकी धारा निरंतर चलती है। उसका हृदय शुष्क नहीं होता।

उसके ज्ञान-वैराग्यकी धारा निरंतर चलती है। यदि ज्ञानी गृहस्थाश्रममें हो तब उसे मैं कब मुनिदशा अंगीकार करूँ, कब मुझे केवलज्ञान हो ऐसी भावना अर्थात् बारंबार भीतरमें जानेकी भावना अंतरमेंसे उछलती रहती है। ज्ञायककी परिणति निरंतर बनी रहती है। कभी-कभी निर्विकल्पदशा होती है; किन्तु भेदज्ञानकी धारा तो निरंतर वर्तती है।

(स्वानुभूतिदर्शन-६२९)



प्रश्न :- आत्मा शरीरसे भिन्न है वह तो तुरन्त खयालमें आता है, परंतु जो विभाव होते हैं उनसे भिन्नताका खयाल नहीं आता?

समाधान :- वह कठिन है। शरीर जड़ है और वह दिखाई देता है इसलिये उससे भेदज्ञान करना सरल लगता है। उपयोग सूक्ष्म हो और अपनेको अंतरसे रस-रुचि जगे तो विभावोंसे पृथक् हो सके। विभावोंसे पृथक् होना उसे मुश्किल पड़ता है। परंतु अंतरसे वैसी तैयारी हो तो पृथक् हो सकता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-६३०)



प्रश्न :- आत्मा कैसे दिखाई दे? उसमें लीन होनेका प्रयत्न करते हैं परंतु अंधकार ही दिखाई देता है?

समाधान :- ज्ञायक ज्योतिको पहिचाने तो आत्मा दिखाई दे। ज्ञायकको पहिचानना चाहिये कि यह रहा मैं आत्मा... यह रहा मैं ज्ञायक; जैसी चैतन्यस्वभावी वस्तु है वैसी स्वयं श्रद्धा करे तो उसे देख सके “निज नयनोंके आलससे रे... मैं देख न सका हरिको।” अपने नेत्रोंके आलस्यवश आँख खोलकर स्वयं नहीं देखता, तो चैतन्यभगवान दिखाई कहाँसे दें? स्वयं देखता ही नहीं तो फिर तो अंधकार ही दिखेगा न! अपने ज्ञानरूपी चक्षुओंको नहीं खोलता इसलिये आत्मा दृष्टिगोचर नहीं होता; यदि खोले तो दिखाई दे।

(स्वानुभूतिदर्शन-६३१)



प्रश्न :- आत्माको देखनेका मन तो बहुत होता है?

समाधान :- परंतु उसका उपाय नहीं करता। आत्माको देखनेका उपाय करना चाहिये कि मैं कैसे भीतरमें जाऊँ? उसका उपाय क्या है?—ऐसे उपाय करना चाहिये। अनादिकालीन अन्य अभ्यास होनेके कारण बाहर ही बाहर रहता है; लेकिन उपाय करे तो भीतर जा सकता है। कोई दूसरा नहीं स्वयं ही है। अपना स्वभाव है वह सहज है, सरल है तथापि अनादिकालसे दूसरा ही अभ्यास वर्तता है और बाहर ही बाहर भटक रहा है इसलिये यह दुर्लभ हो रहा है। भीतरमें जो अपना स्वभाव है वह सरल है किन्तु पुरुषार्थ नहीं करता इसलिये नहीं दिखता।

(स्वानुभूतिदर्शन-६३२)



प्रश्न :- विकल्प सहज है वह कैसे?

समाधान :- किसी अपेक्षासे विकल्प सहज है। जो विकल्प-विभाव होते हैं उनका कर्ता मैं नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक हूँ, इस अपेक्षासे विकल्प सहज है ऐसा कहा है। बाकी तो वे अपने पुरुषार्थकी मंदतासे होते हैं और यदि स्वयं स्वरूपसन्मुख हो जाय तो वे छूट जाते हैं।—ऐसी दो अपेक्षायें हैं।

विकल्प अकेला सहज ही है अर्थात् जो होना हो वह होता है ऐसा एकांत ग्रहण करनेसे नुकसानका कारण होता है। जैसा होना हो वैसा होता है, स्वयं कुछ कर नहीं सकता, पुरुषार्थ करे तो भी विकल्प नहीं छूटते ऐसा सहजका अर्थ नहीं है।

विकल्प अपना स्वभाव नहीं है, इसलिये द्रव्य-अपेक्षासे उसका कर्ता नहीं है, अतः उसे सहज कहा

है; परंतु दूसरी अपेक्षासे विकल्पको अपना जाने कि वह पुरुषार्थकी मंदतासे होता है और स्वयं स्वभावकी ओर झूके और ज्ञायक हो जाय तो वह छूट जाता है।-ऐसी दो अपेक्षाएँ हैं। विभाव जब होना हो तब होता है ऐसी एक ही अपेक्षा अर्थात् एकांत लेनेसे हानि होती है, शुष्कता जैसा हो जाता है कि होना हो वह होता है, हम कुछ कर नहीं सकते; विकल्प छूटना होगा तब छूटेगा ऐसा एकांत नहीं है। अपने पुरुषार्थकी मंदताके कारण स्वयं उसमें रुका है, अपनी परिणतिकी मंदता है इसलिये होता है और पुरुषार्थ करे तो छूट जाता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-६३३)



प्रश्न :- सम्यग्दर्शन प्रगट करनेके लिये पहले प्रमाणज्ञानसे पुरुषार्थ करें अथवा ध्रुव-ज्ञायकके बलसे करें? कृपया रीति समझायें।

समाधान :- दोनों साथ हैं। मैं ज्ञायक हूँ, ध्रुव हूँ ऐसा जोर हो और पर्यायमें अपूर्णता है उसका ज्ञान हो-इन दोनों प्रकारसे पुरुषार्थ उठता है। आत्मा द्रव्यस्वभावसे शुद्ध है ऐसा जोर होनेपर भी द्रव्यमें शुद्धता है और पर्यायमें अशुद्धता है-ऐसे दोनोंका ज्ञान, प्रमाणमें साथ रहता है। परिणति भले ही द्रव्यपर दृष्टि दे (दृष्टि भले ही द्रव्यकी हो) तथापि ज्ञान साथ ही रहता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-६३४)



प्रश्न :- पुरुषार्थ करनेके लिये जोर किस पर देना?

समाधान :- जोर द्रव्यपर जाता है, परंतु ज्ञान साथ रहता है। अकेले द्रव्यपर जोर जाये और पर्याय कुछ ही नहीं ऐसा माने तो द्रव्यके ऊपरका जोर मिथ्या होता है। द्रव्यपर जोर दे और पर्यायमें राग या कुछ नहीं है ऐसा जाने तो द्रव्यका जोर मिथ्या होता है। दृष्टि और ज्ञान-दोनों साथ रहते हैं और तभी उसकी द्रव्यदृष्टि भी सम्यक् है। सम्यग्ज्ञान साथ न हो तो द्रव्यदृष्टि भी सम्यक् नहीं है। भले ही द्रव्यपरका जोर मुख्य रहे तथापि (पर्यायका) ज्ञान साथ रहता है। इसलिये प्रमाणज्ञान किसी कामका नहीं है ऐसा उसका अर्थ नहीं है; द्रव्यदृष्टि की मुख्यतापूर्वक प्रमाणज्ञान साथ ही रहता है।

(स्वानुभूतिदर्शन-६३५)



प्रश्न :- प्रमाणज्ञान किस प्रकार कार्यकारी है?

समाधान :- द्रव्यदृष्टि ग्रहण करनेसे द्रव्य शुद्ध है ऐसा जोर आनेपर भी पर्यायमें अशुद्धता है वह खयाल ज्ञानमें है। ज्ञानको शुद्धता और अशुद्धता-दोनोंका खयाल है और इसलिये अशुद्धताको टालनेका पुरुषार्थ उठता है। अतः वह (ज्ञानना) भी कार्यकारी है। अशुद्धता टालनी है और शुद्ध पर्याय प्रगट करनी है उसके लिये द्रव्यपर दृष्टिका जोर होता है; तथापि अभी पर्यायमें अशुद्धता है और शुद्धपर्याय प्रगट करनी है इसलिये प्रमाणज्ञान भी कार्यकारी है। द्रव्यदृष्टिके बलसे तथा प्रमाणज्ञानसे-दोनों से पुरुषार्थ उठता है। दोमेंसे एक ही हो तो दृष्टि और ज्ञान दोनों मिथ्या होते हैं। द्रव्यपर दृष्टि न हो और मात्र ज्ञानसे विचार करे तब भी ज्ञान सम्यक् नहीं होता। तथा द्रव्यपर दृष्टिका जोर हो और ज्ञान कार्य न करे तो द्रव्यपर दृष्टिका जोर एकांत हुआ, अर्थात् पर्यायका-स्वरूप ग्रहणका पुरुषार्थ हुआ या नहीं उसका-कुछ खयाल ही नहीं है तो द्रव्यदृष्टि मिथ्या होती है। मुक्तिके मार्गमें दोनों कार्य करते हैं।

मुख्यता भले ही द्रव्यदृष्टिके बलकी हो, परंतु प्रमाणज्ञान साथ होता है। दोनों साथ ही साथ कार्य करते हैं।

(स्वानुभूतिदर्शन-६३६)



मार्ग कहना-परमार्थ कहना-तब तक नहीं, और इस दशाको पानेमें अब कुछ ज्यादा वक्त भी नहीं है। पन्द्रह अंशो तक तो पहुँचा जा चुका है। निर्विकल्पता तो है ही, परन्तु निवृत्ति नहीं है; निवृत्ति हो तो दूसरोंके परमार्थ के लिये क्या करना इसका विचार किया जा सकता है। उसके बाद त्याग चाहिये, और उसके बाद त्याग कराना चाहिये।

महापुरुषोंने कैसी दशा प्राप्त करके मार्ग प्रगट किया है, क्या क्या करके मार्ग प्रगट किया है, इस बातका आत्माको भलीभाँति स्मरण रहता है; और यही प्रगट मार्ग कहने देनेकी ईश्वरी इच्छाका लक्षण मालूम होता है। इसलिये अभी तो केवल गुप्त हो जाना ही योग्य है। एक अक्षर भी इस विषयमें कहनेकी इच्छा नहीं होती। आपकी इच्छाकी रक्षाके लिये कभी कभी प्रवर्तन होता है; अथवा बहुत परिचयमें आये हुए योगपुरुषकी इच्छाके लिये कुछ अक्षरोंका उच्चारण या लेखन किया जाता है। बाकी सर्व प्रकारसे गुप्तता रखी है। अज्ञानी होकर वास करनेकी इच्छा बना रखी है। वह ऐसी कि अपूर्व कालमें ज्ञान प्रगट करते हुए बाध न आये।

इतने कारणोंसे दीपचन्द्रजी महाराज या दूसरेके लिये कुछ नहीं लिखता। गुणस्थान इत्यादि का उत्तर नहीं लिखता। सूत्रका स्पर्श भी नहीं करता। व्यवहारकी रक्षा करनेके लिये थोड़ीसी पुस्तकोंके पन्ने पलटता हूँ। बाकी सब कुछ पत्थर पर पानी के चित्र जैसा कर रखा है। तन्मय आत्मयोगमें प्रवेश है। वहीं उल्लास है, वहीं याचना है, और योग (मन, वचन और काया) बाहर पूर्वकर्म भोगता है। वेदोदयका नाश होने तक गृहवासमें रहना योग्य लगता है। परमेश्वर जान-बूझकर वेदोदय रखता है, क्योंकि पंचम कालमें परमार्थकी वर्षाऋतु होने देनेकी उसकी थोड़ी ही इच्छा लगती है।

तीर्थकरने जो समझा और पाया उसे इस कालमें न समझ सके अथवा न पा सके ऐसी कुछ भी बात नहीं है। यह निर्णय बहुत समयसे कर रखा है। यद्यपि तीर्थकर होनेकी इच्छा नहीं है; परन्तु तीर्थकरके किये अनुसार करनेकी इच्छा है, इतनी अधिक उन्मत्तता आ गयी है। उसे शांत करनेकी शक्ति भी आ गयी है, परन्तु जान-बूझकर शांत करनेकी इच्छा नहीं रखी है।

आपसे निवेदन है कि वृद्धमेंसे युवान बनें और इस अलख वार्ताके अग्रेसरके अग्रेसर बनें। थोड़ा लिखा बहुत समझे।

गुणस्थान समझनेके लिये कहे हैं। उपशम और क्षपक ये दो प्रकारकी श्रेणियाँ हैं। उपशममें प्रत्यक्ष दर्शनका सम्भव नहीं है, क्षपकमें है। प्रत्यक्ष दर्शनके सम्भवके अभावमें ग्यारहवें गुणस्थानसे जीव पीछे लौटता है। उपशम श्रेणी दो प्रकारकी है। एक आज्ञारूप और दूसरी मार्गके जाने बिना स्वाभाविक उपशम होनेरूप। आज्ञारूप उपशम श्रेणीवाला भी आज्ञाके आराधन तक पतित नहीं होता। दूसरी श्रेणीवाला अन्त तक जानेके बाद मार्गकी अज्ञानताके कारण पतित होता है। यह आँखों देखी, आत्मा से अनुभव की हुई बात है। किसी शास्त्रमेंसे मिल जायेगी, न मिले तो कोई बाध नहीं है। तीर्थकरके हृदयमें यह बात थी, ऐसा हमने जाना है। दशपूर्वधारी इत्यादिकी आज्ञाका आराधन करनेकी महावीरदेवकी शिक्षाके विषयमें आपने जो बताया है वह ठीक है। इन्होंने तो बहुत कुछ कहा था, परन्तु रहा है थोड़ा और प्रकाशक पुरुष गृहस्थावस्थामें हैं। बाकीके गुफामें हैं। कोई कोई जानता है परन्तु उतना योगबल नहीं है।

तथाकथित आधुनिक मुनियोंका सूत्रार्थ श्रवणके योग्य भी नहीं है। सूत्र लेकर उपदेश करनेकी आगे जरूरत नहीं पड़ेगी। सूत्र और उसके पहलू सब कुछ ज्ञात हो गये हैं।

यही विनती।

वि.आ. रायचंद।

१६६

बंबई, कार्तिक सुदी ६, मंगल, १९४७

सत्पुरुषके एक-एक वाक्यमें, एक-एक शब्दमें अनंत आगम निहित हैं, यह बात कैसे होगी?

निम्नलिखित वाक्य मैंने असंख्य सत्पुरुषोंकी सम्मतिसे प्रत्येक मुमुक्षुके लिये मंगलरूप माने हैं, मोक्षके सर्वोत्तम कारणरूप माने हैं-

१. मायिक सुखकी सर्व प्रकारकी वांछा चाहे जब भी छोड़े बिना छुटकारा होनेवाला नहीं है, तो जबसे इस वाक्यका श्रवण किया, तभीसे उस क्रमका अभ्यास करना योग्य ही है, ऐसा समझें।

२. किसी भी प्रकारसे सद्गुरुकी शोध करे, शोध करके उसके प्रति तन, मन, वचन और आत्मासे अर्पणबुद्धि करे; उसीकी आज्ञाका सर्वथा निःशंकतासे आराधन करे, और तभी सर्व मायिक वासनाका अभाव होगा, ऐसा समझें।

३. अनादि कालके परिभ्रमणमें अनंतवार शास्त्रश्रवण, अनंतवार विद्याभ्यास, अनंतवार जिनदीक्षा और अनंतवार आचार्यत्व प्राप्त हुआ है। मात्र 'सत्' मिला नहीं, 'सत्' सुना नहीं, और 'सत्' की श्रद्धा की नहीं, और इसके मिलने, सुनने और श्रद्धा करनेपर ही छुटकारेकी गूँज आत्मामें उठेगी।

४. मोक्षका मार्ग बाहर नहीं, परन्तु आत्मामें है। मार्गको प्राप्त पुरुष मार्गको प्राप्त करायेगा।

५. मार्ग दो अक्षरोंमें निहित है और अनादि कालसे इतना सब करनेपर भी क्यों प्राप्त नहीं हुआ, इसका विचार करें।

१७०

बंबई, कार्तिक सुदी १४, १९४७

परम पूज्यश्री,

आज आपका एक पत्र भूधर दे गया। इस पत्रका उत्तर लिखनेसे पहले कुछ प्रेमभक्ति सहित लिखना चाहता हूँ।

आत्माने ज्ञान पा लिया यह तो निःसंशय है; ग्रन्थिभेद हुआ यह तीनों कालमें सत्य बात है। सर्व ज्ञानियोंने भी इस बातका स्वीकार किया है। अब हमें अन्तिम निर्विकल्प समाधि प्राप्त करनी बाकी है, जो सुलभ है। और उसे प्राप्त करनेका हेतु भी यही है कि किसी भी प्रकारसे अमृतसागरका अवलोकन करते हुए अल्प भी मायाका आवरण बाध न करे, अवलोकन सुखका अल्प भी विस्मरण न होय, 'तू ही, तू ही' के सिवाय दूसरी रटन न रहे; मायिक भयका, मोहका, संकल्पका या विकल्पका एक भी अंश न रहे। यदि यह एक बार यथायोग्य प्राप्त हो जाये तो फिर चाहे जैसा प्रवर्तन किया जाये, चाहे जैसा बोला जाये, चाहे जैसा आहार-विहार किया जाये, तथापि उसे किसी भी प्रकारकी बाधा नहीं है। परमात्मा भी उसे पूछ नहीं सकता। उसका किया हुआ सब कुछ सुलटा है। ऐसी दशा प्राप्त करनेसे परमार्थके लिये किया हुआ प्रयत्न सफल होता है। और ऐसी दशा हुए बिना प्रगट मार्ग प्रकाशित करनेकी परमात्माकी आज्ञा नहीं है ऐसा मुझे लगता है। इसलिये दृढ़ निश्चय किया है कि इस दशाको प्राप्त करके फिर प्रगट

(अनुसंधान पृष्ठ सं.१८ पर...)

